राखौं देह नाथ केहि खाँगें

डा0 एस0एन0 उपाध्याय, झाँसी। फोन : 7860039496

प्रस्तुत प्रसंग श्रीरामचरितमानस के अरण्यकाण्ड का है। जब गीधराज जटायु से भगवान स्वयं निवेदन करते हैं –

राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसकाइ कही तेहिं बाता।।

(3/31/5)

प्रस्तुत प्रसंग एक दर्शनिक भावात्मक एवं गंभीर प्रसंगों में से एक है। वन मार्ग में सीताजी के अन्वेषण में चलते हुए गीध जटायु का क्षत–विक्षत शरीर भगवान को रास्ते में मिल जाता है –

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा।।

(3/30/18)

कितना सुन्दर दृश्य है कि भक्त और भगवान आमने–सामने हैं तथा भगवान की आँखों में आँसू तथा भक्त के होंठों पर मुस्कान –

जल भरि नयन कहत रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई।।

(3/31/8)

प्रभु कहने लगे कि कुछ दिन तो जीवित रहिए, मुझे सेवा का समय दीजिए तो गीधराज कहने लगे –

जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा।।
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं देह नाथ केहि खाँगें।।

(3/31/6–7)

विचारणीय है कि भागवत कथा शुक कहे अर्थात् तोता कहे। शुकदेव जी को परम हंस कहते हैं, तो हंस की वाणी से आप कथा सुनें, रामकथा को काकभुशुंडि के रूप में कौआ कथा सुनावे और बगुले या हंस के रूप में हम सुनें! भगवान की कथा अद्भुत इसीलिए है कि समस्त पक्षियों को अपने पक्ष के सदुपयोग की प्रेरणा देती है। यहाँ पक्षियों का अर्थ एक तो दो पंख वाले जीव जो आकाश में विचरण करते हैं और दूसरे वे जो केवल अपनी ही बात को मान्यता देते हैं अर्थात् पक्षपाती। एक सूत्र यहाँ मिलता है –

दो पक्षियों के सिद्धान्तों में भेद है। गीधराज कहते हैं कि प्रभु मैं शरीर नहीं रखना चाहता हूँ, पर काकभुशुंडि जी कहते हैं कि मैं शरीर छोड़ना नहीं चाहता हूँ –

तजउँ न तन निज इच्छा मरना। तन बिनु बेद भजन नहिं बरना।।

(7/96/5)

पक्षियों की बात से ऐसा लगता है कि एक देहवादी है, एक देह से ऊपर देह त्यागी है।

गीध ने प्रभु से पूछा महाराज यह देह नित्य है या अनित्य? तो प्रभु ने कहा कि देह तो अनित्य है, एक दिन मिट ही जाएगा। तब गीधराज कहने लगे– इससे अच्छा सदुपयोग इस देह का क्या हो सकता है जो जनकनंदिनी सीता के लिए लड़ते हुए विसर्जित हो रहा है। आप मरते समय मेरे सामने खड़े हैं। कवितावली में गुसाई जी लिखते हैं –

मोरे मरिबे सम न चार फल होहिं तो नाथ कहिजे।

माने पुरुषार्थ के चार फल संसार में हैं वे मुझे मृत्यु के समय मिल गए तो मृत्यु का वरण ही श्रेष्ठ है चारों फलों में –

अर्थ – तो मिल गया प्रभु संसार में लोग थोड़ा लगाकर अधिक पाना चाहते हैं तो यह अधम शरीर के बदले तो **'गीध देह तजि धरि हरि रूपा'** मिल रहा है, तो अर्थ का लाभ तो हो ही गया है।

धर्म –

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

(7/41/1)

तो मेरे प्राण जगदम्बा के हितार्थ ही जा रहे हैं, इससे धर्म मिल गया।

काम – काम के सन्दर्भ में लोग चाहते हैं अति सुन्दर वस्तु प्राप्त हो। यह कामना जीवन भर बनी रहती है। प्रभु अब आपसे अधिक सुन्दर कौन है? अब जीवन भर कोई सुन्दरता देखने की इच्छा ही नहीं है।

मोक्ष – गीधराज कहते हैं कि अब तो मुझे आपका रूप व धाम मिल ही गया है –

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।।

(3/32/1)

प्रभु प्रसन्न हो गए। आँखों से प्रेमाश्रु छलक गए और वह कहने लगे –

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई।।

(3/31/8)

सर्वमान्य है कि हम एक परमपिता की संतान हैं। जब ईश्वर निष्पक्ष है तो प्राणियों के रूप, रंग, आकार प्रकार में अंतर क्यों होता है? इसका कारण जैसी करनी वैसी भरनी ही होता है। कर्म प्राणियों में जीवन का आधार है। इसे समझने की आवश्यकता है। मन, बुद्धि, वाणी से जो भी क्रिया हम करते हैं, जैसे खाना–पीना इत्यादि, सब कर्म की श्रेणी में आते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार कर्म शब्द कृ धातु से बना है जिसका अर्थ क्रिया या हलचल अथवा कार्य होता है। मानस में कर्म शब्द का प्रयोग प्रायः करनी, करतूत आदि में किया गया है, पर कहीं कहीं तो भाग्य के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है। नित्य व्यवहार में कर्म लेख का अर्थ प्रारब्ध लेख

लिया जाता है। कर्म योग का अर्थ प्रारब्ध योग लिया जाता है। दर्शनशास्त्र का मत है कि कर्म के साथ उसका अच्छा बुरा फल और कर्म करने वाले के साथ उसके कर्मों का भोग ऐसे जुड़ा रहता है जैसे शरीर के साथ उसकी छाया। कर्म का क्या स्वरूप है, इसके बारे में गीता में श्रीकृष्ण जी कहते हैं **'गहना कर्मणो गति'** कर्म के स्वरूप को समझना ही कठिन नहीं, अपितु कर्म का बंधन भी बहुत जटिल है, क्योंकि सौ जन्मों में तो क्या, महाप्रलय में भी कर्मों से छुटकारा नहीं मिल सकता है। महाप्रलय में सभी प्राणियों के ब्रह्म में विलय हो जाने पर भी कर्म नष्ट नहीं होते, अपितु बीज रूप में जीवित रहते हैं और जब पुनः सृष्टि की रचना होती है तो उन्हीं बीजों के अंकुर फूट कर नया जन्म ले लेते हैं। गीता में कहा है –

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

(9/7)

इससे सिद्ध होता है कि जन्म–मरण का कारण ही कर्म–बंधन है तथा सृष्टि–संहार का कारण भी यही है, क्योंकि सृष्टि से पूर्व ब्रह्म में **'एकोहम् बहुस्यामि'** की इच्छा हुई जैसा कि श्रुति कहती है और इच्छा होते ही एक से अनेक रूप हो जाते हैं, अतः ब्रह्म की इच्छा का साकार रूप ही संसार है। जब समस्त प्रपंचों की जड़ कर्म ही है, फिर कर्म किया ही क्यों जाये? कर्म करने की आवश्यकता क्या है?

अखिल सृष्टि जब कर्ममय है तथा भगवान का निवास भी कर्म में है। वह स्वयं अवतार लेकर कर्म ही तो करते हैं। भले ही व्यवस्था के लिए करते हों। हमें श्वास तो लेना पड़ेगा। वह भी कर्म है, अतः कर्मों से अटूट सम्बन्ध होने के नाते हमें कर्म तो करना ही पड़ेगा, कर्म का विभाजन, जो मुनियों द्वारा किया गया है, वह भी जानना चाहिए, यथा –

1. साधन की दृष्टि से - मानसिक (मन में आने वाले विचार), वाचिक (वाणी के द्वारा) और कायिक कर्मेन्द्रियों द्वारा किए गए। ये कर्म शुभ या अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

2. कारण की दृष्टि से -

(अ) नित्य – जिन्हें न करने से पाप लगता है, जैसे संध्या।

(ब) नैमित्तिक – किसी उद्देश्य से, जैसे यज्ञ करना।

(स) सकाम – किसी कामना से कर्म करना, इन्हें काम्य भी कहते हैं।

3. धर्म शास्त्र की दृष्टि से - सात्विक, राजस और तामस।

4. वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से - (क) कर्म – वेदोक्त कार्य, (ख) विकर्म – वेद विरुद्ध किये गए कार्य, (ग) अकर्म – निष्काम भाव से किए गए कार्य।

5. वेदांत की दृष्टि से - (क) क्रियमाण – जो कर्म वर्तमान में किया जा रहा है।

(ख) संचित – पिछले जन्मों में किए गए कर्म।

(ग) प्रारब्ध कर्म – जिन कर्मों के फल ईश्वर इस जन्म में निश्चित कर देता है तथा जो भोगने से ही नष्ट होते हैं। इसी को दैव, भाग्य या होनहार कहते हैं। कर्म फल भोगने के लिए मानस में लिखा है –

तुलसी जसि भवतब्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥

(1/159 ख)

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जी भी भरत जी से कर्म या होनी के बारे में कहते हैं –

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥

(2/171)

परन्तु इस नियम के अपवाद स्वरूप यदि भाग्य निर्माता ईश्वर की कृपा व्यक्ति प्राप्त कर ले तो भाग्य बदला जा सकता है। विश्वास के साथ यह सत्य है कि लौकिक व पारलौकिक विधान बदल जाते हैं। मानस में इसका आशा जनक सन्देश है –

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

(1/32/9 तथा 1/70/5)

केवल मानस में ही नहीं समस्त शास्त्रों का यही उद्‌घोष है। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है –

कथास्रवण मात्रेण सर्व पापैः प्रमुच्यते।

भगवान धन्वन्तरी कहते है :–

अच्युतानन्त गोविन्द नामोच्चारण भेषजात्।
नश्यन्ति सकलरोगाः सत्यम् सत्यम् वदाम्यहम्॥

तुलसीदास जी मानस में एक भाव और स्पष्ट करते हैं –

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(5/44/2)

गीता में श्रीकृष्ण जी भी अर्जुन से यही कहते हैं –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(18/66)

इस प्रकार से सामान्य जीवों के लिए कर्मों का फल भोगना अवश्यमेव है, किन्तु असाधारण व्यक्ति कठिन साधना से दुर्भाग्य टाल सकते हैं। यही शास्त्र मत भी है। अब प्रश्न यह उठता है कि कर्म और भाग्य में कौन बड़ा है। वैसे कहा गया है –

भाग्यम् फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्

पर भाग्य तो कर्म से बनता है, अतः कर्म ही प्रधान है। कर्म बीज है और भाग्य वृक्ष है। सुख व दुख उसके कड़ुवे व मीठे फल हैं। कर्म करना हमारे हाथ में है। फल या भाग्य तो ईश्वर के हाथ में है, अतः कर्म के बाद फल की आशा छोड़ देनी चाहिए, यही गीता का उपदेश है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

(2/47)

अतएव कर्म करने का यही एक तरीका है कि फल की आशा त्याग कर कर्म करते रहिए।

श्रीरामचरितमानस के अनुसार –

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।।

(2/219/4)

वास्तव में जिसने देह और जीवात्मा को एक मान लिया है उसे तो मृत्यु एक बड़ा भय है, किन्तु जिसने देह व जीवात्मा को अलग समझा तथा मृत्यु के बाद भी अपना अस्तित्व समझा है उसे मृत्यु का कोई भय नहीं है। वह तो कर्मों के अनुसार फल भोगते हुए शरीर को वस्त्रों की तरह छोड़ देता है, अतः गीध की विचार धारा है कि प्रभु की सेवा लेने से तो मृत्यु ही श्रेष्ठ है। इससे बड़ा जीवन का क्या दुरुपयोग हो सकता है। दूसरा पक्षी कहता है मैं शरीर का सदुपयोग आपका भजन, आपकी सेवा करके कर रहा हूँ, तो मुझे शरीर रखना है। यदि देखा जाये तो दोनों ही ठीक हैं। महात्माओं ने दोनों तरह की बातें कही हैं। कबीरदास जी कहते है –

जो मरने से जग डरे सो मेरे आनंद। कब मरिहों कब देखिहों पूरन परमानंद।।

फिर उन्हीं ने एक दिन दूसरा तथ्य दिया –

राम बुलावा भेजिया दिया कबीरा रोय।
जो सुख है सत्संग में सो बैकुंठ न होय।।

दोनों बातें विरोधी लगती हैं, पर हैं दोनों सही। इसका अभिप्राय है कि जिसको जो प्रिय लगे सो करे। आपका जीवन भी सार्थक हो सकता है और मृत्यु भी। तभी तो गीधराज जी की बात यथार्थ है कि जब मृत्यु में सार्थकता है तो फिर–

राखौं नाथ देह केहि खाँगे।

फूँक मारकर हम दिये को बुझा सकते हैं, पर अगरबत्ती को नहीं, क्योंकि जो महकता है उसे कौन बुझा सकता है और जो जलता है वह खुद बुझ जाता है।

तुम्हहिं निबेदित भोजन करहीं

प्रस्तुति : **नैना, सर्व हितकारी शिक्षा निकेतन**, निठारी, सै0-31, नोएडा

(द्वितीय पुरस्कार प्राप्त प्रस्तुति)

श्रीरामचरितमानस में समाज के सर्वांगीण विकास एवं मानव के इहलोक और परलोक सुधारने के लिए ऐसे अनेक सूत्र हैं, जिनमें से यदि किसी एक का भी अनुसरण कर लिया जाए तो फिर 'राम–राज्य' की स्थापना में देर न लगेगी और मानव जीवन के परम लक्ष्य अर्थात् भगवतप्राप्ति या मोक्ष को प्राप्त करने में शीघ्र सफलता मिल जाएगी। ऐसे ही जीवन से जुड़े एक सूत्र **'भोजन करने के नियम'** पर चर्चा करते हैं।

भगवान श्रीराम अपने वनवास काल में महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाकर उनसे पूछते हैं कि कोई ऐसा स्थान उन्हें बता दें, जहाँ किसी को भी कष्ट न हो और वे अपने वनवास काल का कुछ समय वहाँ बिता सकें। महर्षि ने व्यंग्यात्मक रूप से भगवान से पूछ लिया कि आप उन्हें ऐसा कोई स्थान बता दें, जहाँ आप न हों अर्थात् हे प्रभु! आप तो सर्वत्र विद्यमान हैं, तथापि उन्होंने श्रीराम जी को 14 स्थान बताए जहाँ वे रहें अर्थात् उनके हृदय में विशेष रूप से वास करें उन चौदह स्थानों में एक स्थान है उन भक्तों का हृदय जो भगवान को निवेदित करके भोजन करते हैं तथा प्रभु प्रसाद समझकर वस्त्राभूषणादि धारण करते हैं –

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।।

(2/129/2)

ईश्वर को निवेदन करने के पश्चात भोजन प्रसाद रूप में परिणत हो जाता है और फिर वह प्रसन्नचित्त से ग्रहण किया जाता है, तब यह नहीं सोच सकते कि इसमें नमक कम है या ज्यादा, मिर्च मसाला है या नहीं आदि–आदि। एक ओर इस प्रकार ग्रहण किया गया भोजन सात्विक प्रवृत्ति उत्पन्न करके हमें ईश्वरोन्मुख करता है तो दूसरी ओर वह हमें स्वास्थ्य प्रदान करता है। प्रसन्नतापूर्वक किया गया भोजन शरीर में धनात्मक ऊर्जा का सृजन करके हमें स्वस्थ रखता है तो वही क्रोधावेश या उद्विग्न मन से किया गया भोजन ऋणात्मक ऊर्जा से एसीडिटी, अपच आदि जीर्ण रोगों को जन्म देता है।

भोजन अकेले नहीं, बल्कि परिवार के सदस्यों के साथ मिलकर एक साथ बैठकर करना चाहिए। बचपन में श्रीराम जी अपने भाइयों और सखाओं के साथ भोजन करते थे –

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं।।

(1/205/4)

इतना ही नहीं, राज्याभिषेक के पश्चात् भी, अति व्यस्त दिनचर्या में भी श्रीराम जी सदैव अपने भाइयों के साथ भोजन करते थे, जिसे देखकर माताएँ आनन्दित होती थीं, क्योंकि माताओं के जीवन में सबसे बड़ी प्रसन्नता यह होती है कि उनके पुत्रों में आपस में प्रेमभाव रहे।

अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननीं सुख भरहीं।।

(7/26/3)

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा

पं. दिनेश चंद्र शर्मा, अध्यक्ष

अनेक विचारकों के मत में निर्गुण ब्रह्म का ही महत्व है, सगुण का नहीं। वे निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश करते हैं, किन्तु निर्गुण ब्रह्म की उपासना सामान्य मनुष्यों के वश की बात नहीं है। वे उसके रहस्य को भी नहीं समझ सकते, तब उपासना ही कैसे करेंगे।

ब्रह्म जब सृष्टि की इच्छा करता है तब स्फुरण को प्राप्त होता है। वह स्फुरण ही उसके जगद्‌रूप होने का एक कारण है। संसार में जब तमोगुण की वृद्धि होती है, तब अत्याचारियों की उत्पत्ति होती है और वे विभिन्न प्रकार के अत्याचार करने लगते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप पृथ्वी काँप उठती है और तब परमात्मा को विवश होकर अवतार लेना पड़ता है।

रामावतार का भी यही कारण था। राक्षसराज रावण और उसके अनुयायियों के अत्याचारों से जनमानस का अन्तस्थल त्राहि–त्राहि कर उठा। उनके अत्याचारों से पृथ्वी काँप उठी, तब भगवान राघवेन्द्र को अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म का यह सगुण रूप हुआ।

गोस्वामी तुलसीदास जी निर्गुण और सगुण का अभेद प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

(1/23/1)

अगुण और सगुण दोनों एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। ये दोनों ही अकथनीय, अथाह, अनादि और अनुपम हैं। इनका भेद प्रतिपादन करते हुए अन्यत्र भी कहते हैं –

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।

(1/116/1)

इस प्रकार वह परमात्मा निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, सामान्य, विशेष, पूर्ण, अपूर्ण सभी कुछ है। उसके विषय में बड़े–बड़े सन्त–महात्मा, ऋषि–महर्षि, योगी–यती बहुत कुछ वर्णन कर चुके हैं, किन्तु उन्होंने जितना भी वर्णन किया है, वह परमात्मा की यथार्थ महिमा से बहुत कम एवं अपर्याप्त है, क्योंकि उन्होंने अपने–अपने अनुभव के अनुसार ही तो वर्णन किया है। फिर अनुभव किसी का भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब मनुष्य पूर्ण है ही नहीं, तब उसका अनुभव ही कैसे पूर्ण हो सकता है। क्या कभी कोई अपूर्ण या सीमित शक्ति पूर्ण और असीमित तत्व के वर्णन के विश्लेषण में समर्थ हो सकती है।

जिसे गुणों ने व्याप्त कर रखा है, उसमें सभी गुणों का विद्यमान रहना सम्भव नहीं। वह तो गुणातीत में ही सम्भव है। किसी हाँडी में नमक भरा है तो उसमें बूरा नहीं भरी जा सकती, किन्तु यदि हाँडी में कुछ नहीं

है, वह बिल्कुल खाली है तो उसमें चाहे जो कुछ भर दीजिए। परमात्मा ही एक ऐसा तत्व है, जिसमें अनन्त गुणों का समावेश है, फिर भी वह किसी भी गुण से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे जल में तैरता कमल जल से लिप्त नहीं होता। वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप निर्धारण साधक के बुद्धि विवेक पर निर्भर है। जो साधक ज्ञान प्रधान हैं, उन्हें ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण ही प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञान में जो ब्रह्म जिज्ञासा होती है, वह विभिन्न तर्कों, अध्ययनों आदि के आधार पर स्वरूप निरूपण में सफल होती है।

भाव प्रधान साधकों, भक्तों या भक्ति योग के अनुयायियों को ब्रह्म का सगुण रूप ही दिखाई देता है। वस्तुतः भक्त को न तो किसी प्रकार की जिज्ञासा रहती है, न वह तर्क आदि पर ही विश्वास करता है और अध्ययन का तो उसे अवकाश ही कहाँ? वे तो भगवान की मूर्ति का ही अध्ययन करते रहते हैं। उनकी जिह्वा पर राम नाम और हृदय में राम भक्ति रहती है। इस प्रकार उन्हें निराकार से कोई मतलब नहीं, वे तो साकार के ही उपासक हैं।

इस प्रकार जहाँ निर्गुण और सगुण के भेद से परमात्मा के दो भेद कहे गये, वहाँ अकेले सगुण के भी दो भेद स्वीकार किये गये हैं, उनमें एक सगुण रूप तो सत्वादि सहज गुणों से सम्पन्न रहता है, जबकि दूसरा–सगुण रूप सौन्दर्य, औदार्य, माधुर्य, सुशीलता तथा ऐश्वर्य आदि अप्राकृतिक से समन्वित रहता है।

किन्तु विचार करके देखें तो वह एक ही निराकार ब्रह्म अनेक रूप रखने की सामर्थ्य वाला होने के कारण सहज ही साकार हो सकता है। जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म के अंश से प्रकृति होती है और उस प्रकृति में अनन्त संसार समाविष्ट रहता है, वैसे ही माता कौशिल्या के अंक में उनके पुत्र रूप से विद्यमान श्रीराम और उनके मुख में अनन्त सृष्टि विद्यमान रहती है।

श्रीरामचरितमानस ही उक्त तथ्य का स्पष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। श्रीराम के शिशु रूप के उपासक परम भक्त काकभुशुण्डि जी जब खेल–खेल में उनके मुख में जा पहुँचते हैं, तब वहाँ असंख्य ब्रह्माण्डों में भ्रमण करने लगते हैं। उन्हें उस समय सभी कुछ प्रत्यक्ष दिखाई देता है। सभी लोक, सभी देश, सभी स्थान, अवध और उसमें विद्यमान राजभवन उन्हें उसी प्रकार दीख जाता है, जिस प्रकार के राजभवन में अपने प्रभु को माता कौशिल्या की गोद में खेलते देख चुके हैं। इसी राजभवन में उन्होंने पुनः भगवान को खेलते देखा और अपने नयन तृप्त किये।

इस प्रकार भगवान के उदर में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को स्थित देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। काकभुशुण्डि जी को इस प्रकार के व्यामोह में पड़े देखकर भगवान हँसने लगे। फिर क्या था? मुख मार्ग से ही बाहर आने को विवश होना पड़ा। उन्होंने बाहर आकर भगवान को प्रणाम किया। प्रभु श्रीराम ने उन्हें अपनी श्रेष्ठ भक्ति प्रदान की। मानस में काकभुशुण्डि जी गरुड़ से कहते हैं –

जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥
असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥

जे मति मलिन बिषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी।।

(7/72 ख तथा 7/73/1–2)

अर्थात् जैसे कोई नट अनेक वेश बनाकर नाचता है और उस वेश के अनुरूप भाव प्रदर्शन करता है, किन्तु वह स्वयं उनमें से कोई भी नहीं हो जाता, वैसे ही रघुनाथ जी की इस लीला को समझिये, जो राक्षसों को विशेष रूप से मोहित करती और भक्तों को सुख देती है। हे गरुड़! हे स्वामी! जो मनुष्य मंद बुद्धि, विषयी एवं कामी हैं, वे ही प्रभु पर इस प्रकार के मोह होने का आरोप करते हैं।

परमात्मा में भक्ति भाव रखने पर पापी से पापी व्यक्ति भी सुखी हो जाता है। ऐसे व्यक्ति में निर्गुण के रहस्य को समझने की तो बुद्धि होती नहीं और सगुण हो नहीं, तब किसकी भक्ति करे वह? भगवान के लिये तो सभी समान हैं। वे अपने भक्त को आनन्द देते हैं और अपने से विमुख पापियों का भी उद्धार करना चाहते हैं। यही कारण है कि उन्हें अपने भक्तों के आनन्द के लिये ही नहीं, अपने विरोधियों को भी सुखी बनाने के लिये भी संसार में आना होता है, यही उनके अवतार लेने का उद्देश्य होता है, यही उनके निर्गुण से सगुण होने का रहस्य है।

शुष्क काष्ठ को लीजिए– उसमें अग्नि की विद्यमानता रहती है। यदि दो काष्ठों को लेकर परस्पर में रगड़ा जाये तो अग्नि प्रकट हो जाती है। इससे सिद्ध है कि काष्ठ में अग्नि की स्थिति निराकार रूप से तो है ही, यदि न होती तो रगड़ने पर ही कहाँ से उत्पन्न हो जाती? रगड़ से अग्नि का उत्पन्न हो जाना ही उसका निराकार से साकार हो जाना है।

जल जब भाप बन जाता है तब अपने रूप में दिखाई नहीं देता, इसे जल का निराकार रूप कह सकते हैं, किन्तु जब वह बरसने लगता है तब साकार हो जाता है। इस प्रकार जब जड़ पदार्थ ही अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त हो सकता है, तब चेतन स्वरूप ब्रह्म अव्यक्त से व्यक्त क्यों नहीं हो सकता?

परमात्मा के रूपों की विभिन्नता के कारण पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि उपासकों के दृष्टिकोण की विभिन्नता ही इसका प्रमुख कारण हो सकता है। जिसकी जैसी विचारधारा होती है, वह भगवान का वैसा ही रूप देखता है –

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ।।

(7/73 ख)

अर्थात परमात्मा का निर्गुण रूप तो (उसका कोई आकार नहीं, ऐसा कहने से) सहज ही समझ में आ जाता है, किन्तु सगुण रूप को कोई नहीं जानता (क्योंकि सगुण रूप एक नहीं, अनेक हैं), इसलिये उन सगुण भगवान के अनेक प्रकार के सुगम अगम चरित्रों को सुनकर मुनियों के मन भी भ्रमित हो जाते हैं।

इतना ही नहीं, सगुण ब्रह्म की नर लीला को देखकर शिवजी की अर्द्धांगिनी सती जी को भी भ्रम हो गया था। यह प्रसंग उस समय का है जब महर्षि अगस्त्य के आश्रम से श्रीराम कथा श्रवण करके शिव–सती

लौट रहे थे। उस समय श्रीराम जी विरह लीला कर रहे थे, सीता जी के हरण के पश्चात, जिसे देखकर शिवजी के द्वारा बहुत समझाने पर भी सती जी ने यह विचार किया –

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥

(1 / 50)

इसी प्रकार का संशय गरुड़ जी को उस समय हो गया था, जब उन्होंने श्रीराम जी को नागपाश में बँधे देखा और स्वयं उन्होंने श्रीराम जी को उससे मुक्त कराया। तब वे विचार कर रहे थे –

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥
भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जा कर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

(7 / 58 / 7–8 तथा 7 / 58)

इनके अलावा अन्य कई मुनीश्वरों / साधकों को संदेह हुआ था, पर लेख के विस्तारभय से सबका उल्लेख नहीं किया जा रहा है, तथापि मुनि भरद्वाज तथा गुरु वसिष्ठ जी के संदेह उल्लेखनीय हैं। भरद्वाज जी के आश्रम में स्वयं श्रीराम जी पधारे और उन्होंने उनको ब्रह्म समझकर स्वागत भी किया, किन्तु वही भरद्वाज जी याज्ञवल्क्य जी से कहते हैं –

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेक बिचारि॥

(1 / 46)

जब श्रीराम जी ने अयोध्यावासियों को परमार्थ का उपदेश दिया– **'बड़े भाग मानुष तनु पावा'**, (7 / 43 / 7) तब एक दिन वसिष्ठ जी ने श्रीराम जी के पास जाकर कहा –

राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदयँ अपारा॥

(7 / 48 / 3–4)

इसी कारण से कि सगुण ब्रह्म के चरित देखकर–सुनकर संशय उत्पन्न न होने पाए, शिवजी कथा सुनाते हुए पार्वती जी को इस प्रकार से समझाते हैं –

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥
अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥

(6 / 74 / 1–2)

अर्थात् हमें तर्क बुद्धि को त्याग कर ही भगवान के सगुण स्वरूप की कथा सुननी चाहिए। इसी में हमारा कल्याण निहित है।

ज्ञानी जन निर्गुण ब्रह्म के चिंतक होते हैं और भक्तगण सगुण ब्रह्म के उपासक। दोनों ही अपनी–अपनी साधना से मानव जीवन का परम लक्ष्य भगवत् प्राप्ति तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार से ज्ञान और भक्ति में कोई अंतर, ठीक उसी प्रकार से नहीं है जिस प्रकार से निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। तथापि साधना की दृष्टि से भक्ति मार्ग सरल है, क्योंकि ज्ञान मार्ग पर चलना कृपाण की धार पर चलने के समान है। काकभुशुंडि जी, गरुड़ जी को ज्ञान–भक्ति का भेद समझाते हुए कहते हैं –

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(7 / 119 / 1–2 तथा 4)

स्वयं श्रीराम जी ने अयोध्यावासियों को परमार्थ तत्व समझाते हुए ज्ञान और भक्ति का अंतर इस प्रकार से बताया –

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

(7 / 45 / 2–5)

इस प्रकार से निर्गुण या सगुण ब्रह्म के जो उपासक / चिंतक ज्ञान या भक्ति को साधन स्वरूप अपनाते हैं, वे अपनी–अपनी रुचि के अनुसार साधनारत रहते हुए श्रद्धा–विश्वास से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। कुछ अंतर है मान्यताओं में और तदनुसार साधना में भी, किन्तु गन्तव्य दोनों का एक ही है अतः–

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।

होती आरती, बजते शंख, पूजा में सब खोए हैं ।
मन्दिर के बाहर तो देखो भूखे बच्चे सोए हैं ।।

एक निवाला इनको देना प्रसाद मुझे चढ़ जायेगा ।
मेरे दर पर मांगने वाले तुम्हें बिन मांगे सब मिल जायेगा ।।

मंदिर की सीढ़ी पर बैठने का रहस्य

बड़े बुजुर्ग कहते हैं कि जब भी किसी मंदिर में दर्शन के लिए जाएं तो दर्शन करने के बाद बाहर आकर मंदिर की सीढ़ी पर थोड़ी देर बैठते हैं। इस परंपरा का रहस्य जानिए।

आजकल तो लोग मंदिर की सीढ़ी पर बैठकर अपने घर की, व्यापार की, राजनीति की चर्चा करते हैं, परंतु यह प्राचीन परंपरा एक विशेष उद्देश्य के लिए बनाई गई। वास्तव में मंदिर की सीढ़ी पर बैठ कर के हमें एक श्लोक बोलना चाहिए। यह श्लोक आजकल के लोग भूल गए हैं। आप इस श्लोक को सुनें और आने वाली पीढ़ी को भी इसे बताएं। यह श्लोक इस प्रकार है –

अनायासेन मरणम् बिना दैन्येन जीवनम्।
देहान्ते तव सान्निध्यम् देहि मे परमेश्वरम्॥

(1/303/2–8)

अनायासेन मरणम् अर्थात् बिना तकलीफ के हमारी मृत्यु हो और हम कभी भी बीमार होकर बिस्तर पर पड़े–पड़े कष्ट उठाकर मृत्यु को प्राप्त न हों, चलते फिरते ही हमारे प्राण निकल जाएं।

बिना दैन्येन जीवनम् अर्थात् परवशता का जीवन न हो अर्थात् हमें कभी किसी के सहारे न रहना पड़े, जैसे कि लकवा हो जाने पर व्यक्ति दूसरे पर आश्रित हो जाता है, वैसी परवशता न हो। ठाकुर जी की कृपा से बिना भीख के ही जीवन यापन होता रहे।

देहांते तव सान्निध्यम् अर्थात् जब भी मृत्यु हो तब भगवान के सम्मुख हो, जैसे भीष्म पितामह की मृत्यु के समय स्वयं ठाकुर जी उनके सम्मुख जाकर खड़े हो गए। उनके दर्शन करते हुए प्राण निकले।

देहि मे परमेश्वरम् अर्थात् हे परमेश्वर ऐसा वरदान हमें देना। यही प्रार्थना करें भगवत दर्शन के पश्चात सांसारिक वस्तुएँ, सुख–साधन न माँगें यह तो भगवान आप की पात्रता के हिसाब से खुद ही आपको देते हैं। इसीलिए दर्शन करने के बाद बैठकर यह प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए। यह प्रार्थना है, याचना नहीं है। याचना सांसारिक पदार्थों के लिए होती है जैसे कि घर, व्यापार, नौकरी, पुत्र, पुत्री, सांसारिक सुख, धन या अन्य बातों के लिए जो माँग की जाती है वह याचना है, वह भीख है।

हम प्रार्थना करते हैं प्रार्थना का विशेष अर्थ होता है अर्थात विशिष्ट श्रेष्ठ। प्रार्थना अर्थात् निवेदन। ठाकुर जी से प्रार्थना करें और प्रार्थना हेतु उपर्युक्त श्लोक कहें। श्लोक याद न रहे तो अपनी भाषा में ही उपर्युक्त भाव से प्रार्थना करनी चाहिए। जब हम मंदिर में दर्शन करने जाते हैं तो खुली आँखों से भगवान को देखना चाहिए, निहारना चाहिए। उनके दर्शन करना चाहिए। कुछ लोग वहाँ आँखें बंद करके खड़े रहते हैं। आँखें बंद क्यों करना, हम तो दर्शन करने आए हैं भगवान के स्वरूप का, श्री चरणों का मुखारविंद का श्रृंगार का सम्पूर्णानंद लें। आँखों में भर लें स्वरूप को। दर्शन करें और दर्शन के बाद जब बाहर आकर बैठें तब नेत्र बंद करके जो दर्शन किए हैं उस स्वरूप का ध्यान करें। मंदिर में नेत्र नहीं बंद करना। बाहर आने के बाद सीढ़ी पर बैठकर जब ठाकुर जी का ध्यान करें, तब नेत्र बंद करें और अगर ठाकुर जी का स्वरूप ध्यान में नहीं आए तो दोबारा मंदिर में जाएं और भगवान का दर्शन करें। नेत्रों को बंद करने के पश्चात् उपर्युक्त श्लोक का पाठ करें अथवा इसके भाव का स्मरण करें।

करु परितोषु मोर संग्रामा

श्री अवध किशोर दूबे, पूर्वडीहा, पलामू, झारखंड। फोन - 8409925271

जनकपुर में धनुषभंग के पश्चात् परशुराम जी अत्यंत क्रोधित होकर आते हैं। श्रीराम–लक्ष्मण से संवाद होता है। लक्ष्मण जी के व्यंग्यात्मक वचनों से उनका क्रोध और बढ़ जाता है और वे श्रीरामजी को युद्ध के लिए ललकारते हैं –

करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहिं त छाड़ कहाउब रामा।।

(1/281/2)

इस प्रसंग को यदि हम आज के व्यावहारिक जीवन में घटित होने वाले दृश्यों के आधार पर देखें तो हमारे लिए बहुत उपयोगी और सार्थक होगा, क्योंकि रामायण (श्रीरामचरितमानस) के हर दृश्य कहीं न कहीं हमारे जीवन में भी कभी न कभी आते ही हैं।

जरा विचार करें कि शिव धनुष भंग होने के बाद परशुराम जी के क्रोध के केन्द्र बिन्दु में क्या है? यदि टूटने से इतना दुख होता तो लक्ष्मण जी ने विकल्प दिया ही कि किसी गुणी (जानकार) को बुला कर इसे जुड़वा लीजिए –

जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई। जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई।।

(1/278/3)

इतिहास साक्षी है कि जब गणेश जी का सिर जुड़ गया, दक्ष प्रजापति का सिर जुड़ गया, आपने जब पिता के कहने पर अपनी माता का सिर काट डाला और वह भी पुनः जुड़ा, तो क्या शिव जी का धनुष जुड़ नहीं सकता था? गुणी को बुलाइए और इसे जुड़वा दीजिए और विवाद खत्म करें, लेकिन विवाद के केंद्र में ये शिव धनुष हो तब न, असल में विवाद के केंद्र में है मान, सम्मान, प्रतिष्ठा।

नाहिं त छाड़ कहाउब रामा।।

इस अर्द्धाली में मान–प्रतिष्ठा की आड़ में अहंकार लक्षित हो रहा है। वैसे तो शास्त्रों में कहा गया है कि प्रतिष्ठा को सूकर की विष्ठा के समान त्याग देना चाहिए –

प्रतिष्ठा सुकरी विष्ठा सुज्ञ तां दूरितः त्यजेत्।

श्रीरामचरितमानस के अनुसार –

लोकमान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु।।

(1/161 क)

लेकिन ये हमारे व्यावहारिक जीवन में है क्या? नाम के आगे पीछे बड़े बड़े विशेषण, आलीशान बंगले, साधु भी बने तो बड़े बड़े मठ, ये सब क्या है? यदि हमें सबसे अधिक कोई क्षुधा है तो वह है सम्मान देने की नहीं, बल्कि लेने की ही है। शिव धनुष भंग के पीछे केवल सीता जी से विवाह ही नहीं, बल्कि विश्व में प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा भी है –

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा। राज समाज आजु जोइ तोरा।।
त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही।।
कुंअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय।।

(1/250/3–4 तथा 1/251)

परशुराम जी का बहुत देर तक लक्ष्मण जी से तो कभी राम जी से वाद–विवाद चलता रहा तो राम जी इस विवाद को समाप्त करने के लिए कुछ युक्ति लेकर पहल करते हैं कि – हे प्रभु! कोई उपाय बताएं जिससे आपका क्रोध शान्त हो? यदि व्यक्ति चाहे तो हर चीज का समाधान हो सकता है, अतः विवाद से संवाद की ओर चलें, यही उचित है। इतनी बड़ी सभा है, हजारों लाखों लोगों सहित आकाश में देवता गण भी इस दृश्य को देख रहे हैं, इसलिए समाधान होना चाहिए। तो क्रोध भरी हंसी युक्त भाव से परशुराम जी कहते हैं कि इसका एक ही उपाय है कि तुम मुझसे युद्ध करो और यदि ऐसा न करो तो 'राम' कहलाना छोड़ दो –

करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहिं त छाड़ कहाउब रामा।।

(1/281/2)

यहीं हमारे तुम्हारे बीच युद्ध हो जाए।

राम जी – युद्ध क्यों आवश्यक है मुनीश्वर?

परशुराम जी – क्योंकि विश्व प्रसिद्ध क्षत्रिय कुलद्रोही के सामने तुम शिव धनुष भंग कर विश्व प्रसिद्धि चाहते हो इसीलिए।

राम जी – आप ब्राह्मण देवता हैं और हम क्षत्रिय हैं, अतः क्षत्रिय धर्म के अनुसार आपसे युद्ध उचित नहीं है। मैं ब्राह्मण पर शस्त्र प्रहार नहीं कर सकता, इसलिए कोई और उपाय बताइए? आप चाहें तो मेरा सिर काट दें, लेकिन मैं आपसे युद्ध नहीं करूंगा, इसलिए कोई और विकल्प कहें ब्राह्मण देवता?

परशुराम जी कुछ विचार करने के बाद कहते हैं, हाँ एक उपाय है।

राम जी – क्या ब्राह्मण देवता? आदेश दीजिए!

परशुराम जी – आज से तुम राम कहलाना छोड़ दो। मैं शिव धनुष भंग के अपराध के लिए क्षमा कर सकता हूँ, लेकिन तुम जो राम कहला रहे हो न, आज से राम कहलाना बंद कर दो। तो सोचिए कि शिव धनुष तोड़ने का विवाद नाम पर क्यों केन्द्रित हो गया? प्रायः यही होता है कि हमें किसी के धन संपत्ति से अधिक उसकी प्रतिष्ठा से आपत्ति रहती है।

परशुराम जी के उक्त कथन (नाहिं त छाड़ कहाउब रामा) पर मंद मंद मुस्कुराते हुए राम जी कहते हैं कि – हे मुनीश्वर! मेरा तो छोटा सा दो अक्षर का ही नाम 'राम' है और आपका तो परशु के साथ बड़ा नाम है 'परशुराम'।

राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा।।

(1/282/6)

आप मुझसे सभी प्रकार से बड़े हैं, हम क्षत्रिय और आप ब्राह्मण। यदि आप सिर हैं तो मैं चरण हूँ। फिर इसमें प्रतिस्पर्धा कहां? फिर मेरे छोटे से 'राम' नाम से इतनी आपत्ति क्यों है? मानस प्रेमी सज्जन वृंद! सच कहूं तो इस प्रकार के नाम पर आपत्ति हमारे जीवन में भी है। भले ही अगला मेरा कुछ बिगाड़ न रहा हो, पर मैं करोड़पति हूँ तो उसे करोड़पति नहीं देख सकता। मेरी प्रतिष्ठा है वह तो ठीक है, लेकिन मेरे समान किसी और की प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिए। परशुराम जी द्वारा राम जी से राम कहलाना छोड़ने के लिए कहने के पीछे कुछ इसी प्रकार का तात्पर्य तो नहीं है। एक राम के रहते दूसरा राम कहां से आ गया, लेकिन ये सब हमारे आपके चाहने मात्र से नहीं होता है। बंधुओ! एक दिन वह समय आता है जब करोड़पति का सामना कोटि कोटि खरबों के पति से हो जाता है और परशुराम जी के साथ यही हुआ।

देत चापु आपुहि चलि गयऊ। परसुराम मन बिषमय भयऊ।।

(1/284/8)

अभिमान चूर चूर हो जाता है – परशुराम जी का और वे श्रीराम जी की प्रार्थना करके, उनसे क्षमा याचना करते हुए तप हेतु वन को प्रस्थान करते हैं।

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।।
कहि जय जय जय रघुकुलकेतू। भृगुपति गए बनहि तप हेतू।।

(1/285/6–7)

सब कर संसउ अरु अग्यानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू।।
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई।।

(1/260/4–5)

इसलिए राम जी से प्रार्थना है कि – हे प्रभु! हमें सब कुछ देना, लेकिन अभिमान न देना। यदि अभिमान ही देना हो तो ऐसा अभिमान देना, जिसकी भक्त सुतीक्ष्ण ने याचना की थी।

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।

(3/11/21)

With best compliments from

Dr. Virendra Singh

Managing Director

9999814220, 8178080605, 8588831777

E Mail Id : mml@maxmaintenanceltd.com

MAX MAINTENANCE LIMITED

(AN ISO 9001:2008 CERTIFIED ORGANIZATION)

OUR SERVICES

- Annual Repair and Maintenance (Any Type of Building)
- Cleaning, House Keeping (Sanitation Services)
- Office Furniture Supply Services
- Computer (IT) Services
- Security Guard Services (Providing Ex-Serviceman Security Staff)
- Bouncers, Bodyguards, Commandos, Personal Security Officers(PSO)
- Arms Guard (Gun Man) Services
- Cash Van/ATM Banking Services

CORPORATE OFFICE

D-7, Sector 7, Noida-201301, G.B.Nagar (U.P.) India

Mob : 08588831761 Phone : 0120-4297109, 4297110

Website : www.maxmaintenanceltd.com, E Mail Id: mml@maxmaintenanceltd.com

sales@maxmaintenanceltd.com, support@maxmaintenanceltd.com

GURGAON OFFICE

F 30, First Floor, Raheja Square, Sector 2

IMT Manesar, Distt Gurgaon(Haryana) Phone : 0124-4235679

DELHI OFFICE

C 5/99-100, New Kondli (Opp Petrol Pump), Delhi - 110096

Phone : 011-22610095